हिंदी उपन्यास में लोक-संस्कृति

संपादक

पूनम सिन्हा

त्रिविक्रम नारायण सिंह

हिन्दी उपन्यास में लोक संस्कृति

सम्पादक

पूनम सिन्हा

त्रिविक्रम नारायण सिंह

समीक्षा प्रकाशन

दिल्ली / मुजफ्फरपुर

ISBN : 978-93-87638-85-3

प्रथम संस्करण
2020

सर्वाधिकार ©
सम्पादक

प्रकाशक
समीक्षा प्रकाशन
जे.के.मार्केट, छोटी कल्याणी
मुजफ्फरपुर (बिहार)–842 001
फोन : 09334279957, 09905292801
E-mail : samikshaprakashan@yahoo.com
www : samikshaprakashan.blogspot.com
samikshaprakashan.in

दिल्ली कार्यालय
आर-27, रीता ब्लॉक
विकास मार्ग, शकरपुर, दिल्ली–92
मो.-07970692801

पृष्ठ-सज्जा
सतीश कुमार

मुद्रक
बी०के० ऑफसेट,
शाहदरा, दिल्ली।

मूल्य
400.00 (चार सौ रुपये)

Hindi Upanas Me Lok Sanskriti
Edited by **Poonam Sinha** **Rs. 400.00**

अनुक्रम

सम्पादकीय.... 05

- भारतीय संस्कृति लोक संस्कृति में जीवंत है : डॉ. मृदुला सिन्हा 11
- डॉ. रांगेय राघव के उपन्यासों में लोक संस्कृति : डॉ. उषा किरण खान 19
- लोक जीवन और उपन्यास : प्रो. सत्यकाम 24
- उपन्यास और लोक-संस्कृति : रेवती रमण 43
- घरवास : लोक जीवन से साक्षात्कार : पूनम सिन्हा 49
- सुर बंजारन : लोक से विलुप्त होते सुरों की धड़कन : पूनम सिन्हा 57
- हिंदी उपन्यासों में लोकसंस्कृति : रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में लोकसंस्कृति : हरिनारायण ठाकुर 69
- हिन्दी उपन्यासों में लोक-संस्कृति के विविध आयाम 'देहाती-दुनिया' के संदर्भ में : प्रो. सुधा बाला 78
- लोकसंस्कृति का ऐतिहासक दस्तावेज अगन हिंडोला : प्रो. मंगला रानी 88
- लोकजीवन को सहेजने वाली कथाकार : उषा किरण खान : सुनीता गुप्ता 94
- आंचलिक उपन्यास में लोक-संस्कृति : डॉ. शैल कुमारी वर्मा 101
- मैला आँचल में लोक संस्कृति की झलक : डॉ. त्रिविक्रम ना. सिंह 107
- फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में लोक संस्कृति के विभिन्न चित्र : डॉ. धीरेन्द्र प्रसाद राय 116
- अमृतलाल नागर के उपन्यासों में लोक संस्कृति : डॉ. कल्याण कुमार झा 124
- लोक जीवन की यथार्थवादी एवं आदर्शवादी चेतना का सच्चा दस्तावेज 'मैला आंचल' : स्वर्णिम शिप्रा 133
- आँचलिक उपन्यासों में लोक-संस्कृति : पल्लवी कुमारी 142
- 'गोदान' में लोक-संस्कृति : स्मृता 148
- प्रेमचन्द के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : उमेश मल्लिक 153

- 'गोदान' में निहित लोक-संस्कृति के चित्र : रवि कुमार 157
- नागार्जुन के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : डॉ. इन्दिरा कुमारी 161
- काशीनाथ सिंह के उपन्यासों में लोक संस्कृति : डॉ. दुर्गानन्द यादव 168
- रामधारी सिंह दिवाकर के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : वेदांत चंदन 176
- अनामिका के उपन्यासों में लोक-संस्कृति : सिन्धु कुमारी 182
- हिंदी उपन्यास में लोक-संस्कृति : शिव प्रिया 188
- भगवानदास मोरवाल के उपन्यास 'हलाला' में लोकसंस्कृति : रेशमी कुमारी 191
- रेणु के उपन्यासों में लोक संस्कृति : स्मिता कुमारी 194
- संस्कृति की सामासिकता : डॉ. वीणा शर्मा 198
- आंचलिक उपन्यासों में लोक-संस्कृति : विनीता कुमारी 205

संगोष्ठी प्रतिवेदन 210

■

सुर बंजारन : लोक से विलुप्त होते सुरों की धड़कन

पूनम सिन्हा

रचना के जनतंत्र से निरंतर खारिज जोते जा रहे देशजवाद को रचना के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने का काम कथाकार भगवानदास मोरवाल निरंतर कर रहे हैं। उनका समस्त रचनाकर्म इसका गवाह है। ऐसा लगता है कि हाशिये की आवाजें उन्हें निरंतर कोंचती रहती हैं। यह 'कोंचा जाना' उनके सृजन-कर्म का मुख्य प्रस्थानबिन्दु है। उनके उपन्यासों में उन चरित्रों की पीड़ाएँ अधिक मार्मिक हैं जो कभी अपने-अपने क्षेत्र में शोहरत के शीर्ष पर थे और कालान्तर में उपेक्षा और गुमनामी के अँधेरे में इस प्रकार ढक गये कि कभी रोशनी का कोई कतरा उन्हें मुहैया नहीं हो सका। भगवानदास मोरवाल के उपन्यास 'सुर बंजारन' उपन्यास की नायिका रागिनी समय एवं व्यवस्था की मार से चोटिल ऐसी ही गुमनाम कलाकार है, जो लगभग 1963 से 1990 तक हाथरस शैली की नौटंकी में अपने सुर एवं अभिनय के बल पर शोहरत की बुलंदी पर थी। यहाँ तक कि गाँव-घर एवं कस्बों में होने वाले निकाह एवं विवाह में रागिनी को लेकर गीत तक बने थे–'नकीलो आयो ब्याहन लू/कहा लायो है नसीरी को नाच/धूल गोला खूब चला/मजा आतो होतो जो रागिनी को नाच।'' (पृ. 229)

'सुर बंजारन' में लगभग मरणासन्न और विलुप्त होती नौटंकी विधा और नौटंकी की दुनिया में अपनी गायन-क्षमता प्रमाणित करने वाली अदाकारा रागिनी की कथा एक-दूसरे से गुँथी हुई है। कहा जा सकता है कि यह हिन्दी का पहला ऐसा उपन्यास है जिसके आख्यान के केन्द्र में

हास्यरस शैली की नौटंकी, उसकी पूरी परंपरा और सुरों की समाप्तप्राय दुनिया है जिसने अपना मूल, लोक में प्रचलित गाथाओं, ऐतिहासिक, सामाजिक घटनाओं पर आधारित लोक धुनों एवं सुरों से निर्मित किया है।

लोक नाट्य के विविध रूप हैं, जिन्हें एक दूसरे का पर्याय भी माना जाता है, जैसे नौटंकी, स्वांग, सांगीतक, लीला आदि। नौटंकी का कथानक प्रणय, वीरता, साहसपूर्ण घटनाओं से भरा रहता है। 'यह किसी लोकप्रसिद्ध वीर या साहसी या भागवत पुरुष की जीवनकथा पर आधारित रहता है। इसमें अनेक स्त्री पुरुष पात्र होते हैं। स्त्री पात्रों का अभिनय या तो विवाहिता या कुमारी स्त्रियाँ करती हैं अथवा वेश्याएँ करती हैं।.... रंगभूमि में एक ओर गायकों, वाद्य वादकों का समूह रहता है, जो अभिनय, संवाद, नृत्य की तीव्रता, उत्कटता बढ़ाता रहता है। तबला और नगाड़े का विशेष प्रयोग होता है। तबले के तालों और नगाड़ों की चोबों की गूँज रात में मीलों सुनाई पड़ती है, जिसके आकर्षण से सोते हुए ग्रामीण भी नौटंकी देखने पहुँच जाते हैं। रुचि वैचित्र्य के समाधान, स्वाद में परिवर्तन और शांति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए हास्यपूर्ण प्रसंगों की योजना रहती है।....नौटंकी ग्रामीण जनता की नाट्यवृत्तियों का समाधान करने वाले मुख्य साधनों में अधिक महत्त्वशाली है। इस पर पारसी थियेटरों तथा नाटकीय रंगमंच का विशेष प्रभाव है। परन्तु आज चलचित्र के व्यापक प्रसार से इसकी वृद्धि और प्रभाव में अंतर आ गया है।' (हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, पृ. 358)

रागिनी अकेली ऐसी कलाकार नहीं है जो अपने जीवन-काल में ही उपेक्षा और गुमनामी का शिकार हुई हो। बंगला रंगमंच के आदिपर्व की सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री विनोदिनी को भी लोगों ने उनके जीवनकाल में ही भुला दिया। पब्लिक थियेटर को बनाने में नटी विनोदिनी की अग्रणी भूमिका थी। वह लेखिका भी थीं। अत: उन्होंने 'आमार कोथा' और 'आमार अभिनेत्री जीबोन' शीर्षक से अपनी आत्मकथा एवं स्मृतिकथा लिखीं, जिनमें उनके समय के पेशेवर रंगमंच के भी महत्त्वपूर्ण आख्यान हैं। प्रसिद्ध नाटककार गिरीशचन्द्र घोष ने उन्हें अपनी नाट्य-जीवनी लिखने के लिए प्रेरित किया था। नटी विनोदिनी ने 'आमार कोथा' में लिखा है, 'बहुत दिन पहले स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष के विशेष अनुरोध

से मैंने अपनी नाट्य जीवनी लिखनी शुरू की थी। वे इसकी एक एक पंक्ति पढ़कर, देखकर ठीक कर दिया करते थे। कभी एक पंक्ति भी अपने हाथ से नहीं लिखते थे। वे मानते थे कि मैं अपनी सरल भाषा में जो कुछ भी लिखूँ वही वाङ्मय हो सकती है।' यद्यपि गिरीशचन्द्र घोष 'आमार कथा' की भूमिका लिखना चाहते थे किन्तु बीमारी के कारण कालकवलित हो जाने के कारण उनके द्वारा भूमिका नहीं लिखी जा सकी। नटी विनोदिनी गुमनामी की जिन्दगी जीते हुए इस दुनिया से चली गयीं। जाने के पूर्व अपने निजी जीवन एवं बंगला थियेटर के यथार्थ को प्रकाशित कर गयीं। 'सुर बंजारन' उपन्यास के माध्यम से भगवानदास मोरवाल ने हाथरस शैली की नौटंकी विधा एवं उससे जुड़ी रागिनी के जीवन की उपेक्षा एवं विडंबना को उजागर किया है। इसी प्रकार बिहार के भोजपुरीभाषी जनता के चहेते कलाकार भिखारी ठाकुर भी अपने जीवनकाल के उत्तरार्द्ध में उपेक्षित हो गये। अपने विदेशिया नाच की प्रसिद्धि के कारण वे अपने जीवनकाल में ही लीजेंड बन चुके थे। भोजपुरी के शेक्सपीयर कहे जाने वाले भिखारी ठाकुर का अंतिम समय करुणा से भरा है। कथाकार संजीव ने उन पर शोधपरक उपन्यास 'सूत्रध ार' लिखा है। और, अब यह 'सुर बंजारन' उपन्यास एक लोककलाकार रागिनी कुमारी सक्सेना के जीवन के विविध अध्यायों को इस तन्मयता से उजागर करता है कि न सिर्फ रागिनी, बल्कि गुमनामी के अंधेरे में खोए असंख्य अलक्षित चरित्र अपने-अपने सुरों की मीड़, गमक एवं खटका तलाशते हमारे सामने उपस्थित हो उठते हैं। चौबोल, दौड़, दोहा, बहरतबोल, दादरा, ठुमरी, छन्द, लावनी, बहरशिकस्त, सोहनी जैसे छन्द मानो ढोलक की थाप और झील-नक्काड़े की धमक पर एक बार फिर से हमारे कर्ण-कुहरों में अपना स्थान बना लेते हैं।

'सुर बंजारन' जीवनीपरक उपन्यास है और कथानायिका सुदूर अतीत की नहीं बल्कि आज वह जीवित है। अतः इस उपन्यास का लेखन लेखक के लिए अत्यंत चुनौतीपूर्ण रहा होगा। कथाकार ने रागिनी के व्यक्तिगत एवं कला-जीवन को अपनी कल्पना दृष्टि का सहारा देकर अत्यन्त संवेदना एवं संयम के साथ उपस्थित किया है। अतः यह उपन्यास तथ्यों का नीरस संकलन मात्र नहीं है। तथ्यों के प्रति आग्रह होते हुए भी

इसमें भरपूर रोचकता है। प्रेमचन्द की जीवनी 'कलम का सिपाही प्रेमचंद' में प्रेमचन्द के पुत्र एवं जीवनी के लेखक अमृत राय लिखते हैं-'यह भी एक उपन्यास ही है। जिसका नायक प्रेमचंद नाम का आदमी है, फर्क इतना ही है कि यह आदमी मेरे दिमाग की उपज है, हाड़ मांस का एक पुतला है जो इस धरती पर डोल चुका है, जैसे मन चाहे तोड़ने मरोड़ने की आजादी मुझे नहीं है।' 'सुर बंजारन' की नायिका रागिनी का यथार्थ भगवानदास मोरवाल जी के द्वारा पुनःसृजित हुआ है। जीवनीपरक उपन्यास के अपने खतरे होते हैं और वह भी ऐसे चरित्र को रूपायित करने में जो आज भी जीवित हो। वैसे इसे विशुद्ध जीवनीपरक उपन्यास भी नहीं मान सकते हैं क्योंकि यह कथा जितनी रागिनी की है, उससे कम नौटंकी विधा की नहीं। यह तो उपन्यासकार का शिल्प-कौशल है कि उसने दोनों के बीच कहीं फाँक नहीं आने दी है। (जिसकी पूरी संभावना बनती थी) यह उपन्यास नौटंकी विधा की विडम्बना का वह करुणामय पाठ प्रस्तुत करता है, जिसने हमारे समाज में एक हिकारत और उपहास भरा मुहावरा गढ़ लिया है। संस्कृत के 'नट्' धातु को 'नौटंकी' के मूल में माना गया है। ''नट्' धातु में अच्च प्रत्यय लगाने से नट शब्द बना है, उसका अर्थ नाचने वाला है। अर्थात् नटों का व्यवसाय नाचना है। नाट्य और नाटक भी ''नट्' धातु से ही बने हैं।''

'सुर बंजारन' का कथारंभ हिन्दुस्तान थियेटर के डायरेक्टर सूरजप्रसाद शर्मा की नाटकीय उपस्थिति से होता है। एक छोटे से शहर की अलसायी-सी गली में एक घर की खुली खिड़की से उन्हें कमसिन सुर सुनायी पड़े 'घायल हिरनिया मैं बन-बन डोलूँ/किसका लगा बाण मैं मुख से न बोलूँ।' यहाँ अगर आलोचना की विखण्डनवादी पद्धति की स्वतंत्रता ली जाए तो कहा जा सकता है कि यह घायल हिरनिया रक्त-मांस से निर्मित नायिका ही नहीं लोकनाट्य की एक लोकप्रिय विधा नौटंकी भी है। जाहिर-सी बात है कि ये कमसिन-सुर कथानायिका किशोरी रागिनी के हैं।

सूरज प्रसाद शर्मा के आग्रह पर आर्थिक विवशता में रागिनी हिन्दुस्तान थियेटर में शामिल हो जाती है। नौटंकी को कभी भी समाज के अभिजात्य वर्ग ने सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा। इसमें वैसी ही

[illegible] करते रहे जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हो गई हो। उसी
[illegible] मिलने लगी और [illegible] से होती थी।

[illegible] सामने [illegible] नौटंकी कंपनी में शामिल हो गई होती।
[illegible] नौटंकी की दुनिया में उसके नाम का [illegible] जाता है। यह
सब इतना आसान था क्या? सागिनी को [illegible] सौंपती थी। पर [illegible] ने
उसके [illegible] पूरी उसके गले में सुरों का अमृत घोलकर की थी।
[illegible] के [illegible] थियेटर के [illegible] सूरज प्रसाद शर्मा के कठोर
एवं संयमित अनुशासन ने न सिर्फ उसके गले को तराशने में, बल्कि उसे
बेहतरीन अदाकारा बनाने में भी सहयोग किया। सुरों को मोड़, गमक और
मुरकी में सागिनी ने अपने को पूरी तरह खपा दिया। चौबोला, दौड़, दोहा,
[illegible], दादरा, ठुमरी, छन्द, लावनी, [illegible], सोहनी जैसे छन्द
जब जब ढोलक की थाप और झील नक्कारे की धमक पर उसके गले
से निकलते, नौटंकी देखने के लिए चारों तरफ से जन सैलाब उमड़
पड़ता। नगाड़े पर चोट पड़ते ही दिनभर के थके हारे लोग नौटंकी देखने
दौड़ पड़ते एवं नौटंकी देखते हुए अपनी मानसिक क्लान्ति का परिहार
करते थे।

संगीत एवं नृत्य हमारी आदिम कलाएँ हैं। 'लोकधर्मी नाट्य परम्पराओं में नृत्य और संगीत नाटकों की नस नस में व्याप्त है। [illegible] का स्वांग, उत्तर भारत की नौटंकी, मालवा का माच, छत्तीसगढ़ का नाचा तथा मराठी का तमाशा इन सभी नाट्य परम्पराओं में संगीत और नृत्य को बिलगाना संभव नहीं है। नौटंकी के समस्त संवाद लगभग संगीतमय हैं। इन संवादों की अदायगी में नृत्य का तालमेल है। नृत्य और संगीत का कोलाज जब कथा सूत्रों में संग्रथित और रूपायित होने लगा, तब लोक-नाट्यों का प्रत्यक्षीकरण संभव हुआ है।' नौटंकी एक सामूहिक कला है-इसे मोरवाल जी ने अपने वर्णन कौशल से 'सुर बंजारन' में स्पष्ट किया है 'माघ मेले की तैयारियों के बीच हिन्दुस्तान थियेटर गोरखपुर पहुँच गया। कंपनी के मैनेजर ने मेले में जगह सुनिश्चित कर तम्बू, कनात, चारदरी, रावटी, लोहे की चादरों और कलाकारों साजिन्दों के सामानों से भरे दो दर्जन लोहे व लकड़ियों के बक्सों से लदे ट्रक रुकवा दिये। ट्रकों में आगे बैठे प्रमुख पुरुष व महिला कलाकारों के साथ कुछ वरिष्ठ साजिन्दे, पीछे बैठे दूसरे सहायक कलाकारों समेत मेकप मैन,

धोबी, तम्बू उठाने वाले, परदा उठाने-गिराने वाले, रसोइये, दूसरे साजिन्दे और कारिन्दे एक-एक कर ट्रकों से नीचे उतर आये।' (पृ. 51) मोरवाल जी ने नौटंकी के कड़वे यथार्थ को कथा सूत्रों मे पिरोते हुए इसमें काम करने वालों के जीवन की त्रासदी को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। नौटंकी से जुड़े लोग इसके बन्द होते ही भुखमरी के शिकार होते हैं और कुछ तो असमय कालकवलित हो जाते हैं। हिन्दुस्तान थियेटर द्वारा राजगीर में खेली गयी नौटंकी आखिरी साबित होती है। थियेटर बंद होने की घोषणा कर दी जाती है। 'अगले दिन क्या तो कलाकार और क्या साजिन्दे, क्या धोबी-रसोइए, क्या दूसरे कारिन्दे--सब भरे मन से राजगीर से अपने-अपने गन्तव्य की ओर रवाना हो गये। ऐसा लगा रहा है कि जैसे कुछ रोज पहले तक जिस हरे-भरे रुख पर साँझ होते ही हारे-थके परिन्दे आकर सुस्ताते थे, अचानक वह सूख गया है। उसकी टहनियों की एक-दूसरे से गलबहियाँ करती पत्तियों को नोचकर किसी ने मानो उसे निपूता बना दिया।... राजगीर स्टेशन से धीरे-धीरे रवाना होने के बाद, रागिनी अपने आप से दूर होती ट्रेन की खिड़कियों से बाहर निकले, अपने साथी कलाकारों के हवा में हिलते हाथों को देर तक निहारती रही।'' (पृ. 90-91)

नौटंकी के कलाकारों एवं उससे जुड़े कारिन्दों की खानाबदोश-सी जिन्दगी होती है। जिस जगह की शर्त मिली वहीं तंबू गाड़ दिये। छह-छह महीने अपने घरों से दूर ये लोग आपस में मिल-जुलकर पारिवारिक सौहार्द्र को जीने लगते हैं। नौटंकी की मूल प्रकृति स्थायी प्रेक्षागृह की नहीं है। 'कहते हैं कि ईसा से प्राय: छह सौ वर्ष पूर्व थेस्पिस नामक एक यूनानी कवि हुआ था, जिसने यूनान में सबसे पहले नाटक लिखना आरंभ किया था। थेस्पिस अपने साथ दो आदमी रखता था। दोनों को वह एक गाड़ी पर अपने साथ लेकर गाँव-गाँव और नगर-नगर घूमा करता था। उसी गाड़ी पर वे तीनों मिलकर गाते और कुछ कथोपकथन करते थे।' (रूपक-रहस्य, डॉ. श्यामसुन्दर दास, पृ. 28)

हिन्दुस्तान थियेटर बन्द होने के बाद रागिनी अपने शहर, अपने परिवार में लौट आती है। उसकी माँ की लाइलाज बीमारी का इलाज कर रहे राजा साहब के छोटे बेटे वीरेन्द्र स्वरूप सक्सेना रागिनी से अपने विवाह के लिए उसकी माँ के पास प्रस्ताव भेजते हैं। डॉ. सक्सेना रागिनी

ने न सिर्फ उम्र में दस वर्ष बड़े हैं बल्कि शादी-शुदा और दो बच्चों के पिता भी हैं। घर की माली हालत देखते हुए रागिनी डॉ. सक्सेना से विवाह कर लेती है। यह ऐसा विवाह था, 'जिसमें रस्में तो सारी निभाई गयीं मगर एक पिता के घर से बेटी की विदाई नहीं हुई, न एक माँ बेटी के विरह में फूट-फूट कर रोयी। रात के सन्नाटे में एक वर कब चुपचाप दबे पाँव आया और फेरे लेकर कब पूरे शहर को नींद में सोया छोड़, वापस अपने घर में आकर अपने परिवार में शामिल हो गया-किसी को इसकी भनक नहीं लगी।' (पृ. 119)

हिन्दुस्तान थियेटर के बन्द होने और रागिनी और डॉ. सक्सेना के विवाह के बाद रागिनी की कला-यात्रा में विराम आता है। वैसे डॉ. सक्सेना ने विवाह के पूर्व ही कह दिया था कि विवाह के बाद रागिनी के नौटंकी में काम करने में उन्हें कोई ऐतराज नहीं। किन्तु रागिनी अपने को घर तक सीमित कर लेती है। एक बच्चे की मां भी बन जाती है। इस प्रकार 'सुरों का जो अध्याय 1963 के लगभग अंत में शुरू हुआ था, वह 1966 के मध्य तक आते-आते अपनी ताल और गति बिसरा गया।' (पृ. 122) किन्तु पति के सहयोग से जुलाई 1966 से रागिनी की कला-यात्रा पुन: प्रारंभ हो जाती है। न जाने कितने विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना के लिए धन-उगाही के लिए खेली गई नौटंकी में रागिनी के नाम के डंके बजे। ये डंके ऐसे ही नहीं बजे। वह नौटंकी में निरंतर प्रयोग करती रही। भागलपुर की हिन्दुस्तानी थियेटर कंपनी, अलीगढ़ के पन्नालाल थियेटर, बिजली कॉटन मिल के सेठ रामबाबू लाल के भारत थियेटर के बाद उसने खुद की थियेटर कंपनी 'रागिनी कला केन्द्र' खोल ली। लेकिन यह सब इतना आसान था क्या ? नौटंकी के किन-किन बीहड़ रास्तों से गुजरना पड़ा। मान-सम्मान एवं आर्थिक सुविधाएँ मिलीं तो हिकारत भी कम नहीं झेली। नौटंकी की अदाकारा के विषय में कहीं-कहीं यह भी समझा जाता था कि ये रक्कासा हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' की कानपुर शैली की नौटंकी को आधार बनाकर बनी फिल्म 'तीसरी कसम' की नायिका हीराबाई को भी तो दर्शक रंडी कहते हैं। वैसे आश्चर्य की बात है कि अकादमिक या गैर अकादमिक पाठक-आलोचक इस कहानी की नायिका हीराबाई, नायक हीरामन, यहाँ तक कि उपकथा की नायिका महुआ घटवारिन की चर्चा

तो खूब करते हैं किन्तु कानपुर शैली की नौटंकी पर विमर्श कोई नहीं करता। 'सुर बंजारन' में इसकी नायिका एवं हाथरस शैली की नौटंकी दोनों के आख्यान से गुजरना सुखद एवं संतोषजनक है। नौटंकी में प्रयुक्त पंडित नथाराम शर्मा गौड़ रचित गीतों की जो प्रसिद्धि थी, उसके वर्णन में भी उपन्यासकार ने कोई कोताही नहीं बरती है।

नौटंकी एवं रागिनी के इस जीवन-चक्र के वर्णन में उपन्यासकार ने शोधपरक दृष्टि से सारी घटनाओं की पड़ताल तटस्थ दृष्टि से की है। यह तटस्थता उपन्यास के कथ्य को भावुकता के अतिरेक से बचाता है। कथा-प्रवाह में स्त्री-विमर्श के छींटे भी हैं, किन्तु वे आरोपित नहीं हैं। पूरी सदाशयता के साथ कथाकार ने रागिनी के पति के द्वारा रागिनी की कला-यात्रा में किये गये सहयोग का वर्णन किया है। रागिनी के चरित्र को उदात्त दिखाने के लिए कहीं भी डॉ. सक्सेना के चरित्र को ओछा नहीं दिखाया गया है। कथा के अंत में उनकी छवि एक सदाशयी एवं निर्मल-चित्त व्यक्ति के रूप में पाठकों के मन में अंकित होती है।

अंततः रागिनी को अपनी थियेटर कंपनी भी बंद करनी पड़ती है। वह सोचती है, "पता नहीं यह संगीत, स्वांग या नौटंकी के प्रति लोगों में घटती लोकप्रियता का कारण है, संगीत की नासमझी की वजह से है, या फिर इसमें हास्य के नाम पर बढ़ते फूहड़पन का नतीजा है। दूसरे मनोरंजन के साधनों के एकाएक बढ़ने या फिर बढ़ती उम्र के साथ उतरते गले का परिणाम है कि नब्बे का दशक खत्म होते-होते उस तरह और उतनी तादाद में शर्तें नहीं आती हैं, जितनी अस्सी के दशक के मध्य तक आती थीं।' (पृ. 272)

यहाँ पर उपन्यास का समापन किया जा सकता था, किन्तु कथा यहाँ समाप्त नहीं होती है। अचानक एक दिन रागिनी के पास दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (एनएसडी) द्वारा आयोजित लोक परब समारोह में भाग लेने के लिए निमंत्रण पत्र आता है। अपने पुराने कलाकारों को समेट कर एवं पति द्वारा प्राप्त प्रोत्साहन एवं समय के अंतराल को भरने वाले गंभीर रियाज से उत्पन्न विश्वास के बल पर वह एनएसडी पहुँचकर अमर सिंह राठौर की सफल प्रस्तुति देती है। प्रोसीनियम सेटअप के साथ समायोजन करने में लोकपरब समारोह की संयोजिका नुपूर शर्मा उसका सहयोग करती हैं। वह पुनः रागिनी को आदिरंग मोहत्सव में भी प्रस्तुति

के लिए बुलाती हैं। 'अमर सिंह राठौर' की इस दूसरी प्रस्तुति के क्रम में ही रागिनी को पता चलता है कि डॉ. सक्सेना की मृत्यु हो गयी है। फिर वह भी नाटक को पूरा कर लौटती है। इन सारी घटनाओं का संयोजन कथाकार ने संतुलित दृष्टि से किया है।

सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के लिए अभी भी कुछ लोग प्रयत्नशील हैं, यह नुपूर शर्मा के द्वारा इस क्षेत्र में किये गये प्रयासों से पता चलता है। वह रागिनी से कहती हैं कि 'वैसे सभी परम्परागत आर्ट्स की हालत एक जैसी है। इसका यह मतलब नहीं है कि हम अपनी कलाओं को इसलिए मरने के लिए छोड़ दें कि उनमें पहले जैसी बात नहीं रही।' (पृ. 299)

नुपूर शर्मा रागिनी के लिए संस्कृति मंत्रालय द्वारा आर्टिस्ट पेंशन स्कीम एण्ड वेलफेयर फण्ड से पेंशन बँधवाने के उपाय करती हैं। उससे पहले नौटंकी पर वर्कशॉप करने के लिए प्रोडक्शन ग्रांट भी दिलवाती हैं। तमाम प्रयासों के बाद ग्रांट की पचीस प्रतिशत राशि मंत्रालय में रह जाती है। जिस हाथरस के बाबू गंगा सहाय इंटर कॉलेज की स्थापना के लिए धन-राशि की उगाही में रागिनी ने अपनी नौटंकी के द्वारा पैसों की बौछार करवायी एवं खुद का मेहनताना भी दान में दे दिया, उसी कॉलेज का एक पूर्व छात्र और अब मंत्रालय का सेक्शन ऑफिसर ग्रांट की बकाया राशि के भुगतान के लिए रागिनी से दस हजार रुपये रिश्वत लेकर भी राशि निर्गत नहीं करता है। उपन्यासकार ने संस्कृति मंत्रालय के भ्रष्ट तंत्र के रगों-रेशे को उधेड़कर रख दिया है। मालिनी जैसी सामान्य दर्जे की कलाकार जुगाड़ व्यवस्था से राष्ट्रपति के हाथों से पद्मश्री प्राप्त करती हैं और रागिनी जैसी मँजी एवं लोकनाट्य एवं लोककला के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित करने वाली कलाकार वकाये राशि के लिए भूखी-प्यासी मंत्रालय में चप्पल घिसती दिखाई देती है। यही कारण है कि नुपूर शर्मा द्वारा पुनः प्रोडक्शन ग्रांट के लिए दिये गये आवेदन पत्र को वह भरकर जमा करने के वदले शिकोहाबाद के अपने घर में आकर फाड़ कर कूड़ेदान में फेंक देती है।

थियेटर कंपनी में सामूहिकता थी। सुख-दुख एवं परेशानियों की साझेदारी थी। लोक से सीधा जुड़ाव था। आर्थिक पक्ष भी लोक से जुड़ा था। प्रोसीनियम थियेटर से जुड़ने के बाद आर्थिक निर्भरता एक अलग तंत्र

से जुड़ती है। उससे भी आगे लोककलाओं के विकास के लिए आर्थिक पक्ष की निर्भरता जिस प्रशासनतंत्र से जुड़ती है उसमें तो लोककलाकारों को अपना वजूद ही समाप्तप्राय लगता है। तकनीक जहाँ चेतना को प्रभावित करने लगती है लोककला अपनी परम्परा से उन्मूलित होने लगती है। कितना सही कहा था अपनी जमीन से जुड़े रंगकर्मी हबीब तनवीर ने–''शहरी आमतौर पर देहात के कलाकारों को सिखाने जाते हैं। पर मैं कई बार गाँव वालों की संगीत, अभिनय, नाटक संबंधी राय सुनकर हैरान रहा हूँ। 1958 से 1970 के बीच छत्तीसगढ़ी लोककलाकारों के अभिनय और गायन को देखने के बाद मुझे लगा कि यूरोप में भी जो चीजें मैंने सीखी थीं, वे यहाँ किसी काम की नहीं हैं। मुझे यह भी अनुभव हो गया कि उन कलाकारों से उनकी भाषा छत्तीसगढ़ी में ही काम कराना होगा क्योंकि हिन्दी में उन्हें लाने पर उनका आत्मविश्वास डोलने लगता। फिर तो मैं देहात के कलाकारों को उन्हीं की भाषा में उन्हीं की चीज को कुछ सुधार कर प्रस्तुत करने लगा।'

जहाँ तक प्रोसीनियम थियेटर की बात है तो इसके ठहराव का अनुभव फ्रांस के आर्नो एवं जर्मनी के ब्रेख्त ने भी किया। यही कारण है कि ब्रेख्त यथार्थवादी रंगकर्म की सीमा और जड़ता को तोड़ने के लिए पूर्व के रंगकर्म की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने नाटकों में गीत-संगीत की अनिवार्यता पर जोड़ दिया। अत: आधुनिक रंगकर्म के प्रतिसंस्कार के लिए लोकनाट्य के प्रति रूझान आवश्यक है। कला के किसी भी क्षेत्र में उत्तर आधुनिकता की चुनौती से बचा नहीं जा सकता किन्तु, सच यही है कि अपने पारंपरिक स्रोत को बचाये एवं बनाये रखने पर ही निजता बची रहेगी। 'सुर बंजारन' में नुपूर शर्मा का प्रयास इसी ओर इंगित करता है। वह रागिनी से कहती हैं, 'इसलिए मुझे सिर्फ और सिर्फ नौटंकी चाहिए। मैंने आपके ग्रुप को बड़ी उम्मीद और रिस्क लेकर शामिल किया है वरना नौटंकी के नाम पर खेल-तमाशों वाले तो हमें बहुत मिल रहे हैं। देखने और सुनने वालों के कानों में हारमोनियम की संगत, झील की खनक और नागाड़े की धमक पर बस बहरतवील, दौड़ और चौबोला की गूँज सुनायी देनी चाहिए।'' (पृ. 286)

नौटंकी में गीत-नृत्य-संगीत भीतरी परत को उजागर करता है। ब्रेख्त के नाटकों में भी गीत-संगीत गहनों की तरह नहीं बल्कि नाटकों के आगे

बढ़ाने में सहायक होते हैं। ब्रेख्त को मानें तो जो बातें संवाद में पेषित नहीं हो पातीं, उन्हें गीत-संगीत के जरिये [illegible] किया जाता है।

'सुर बंजारन' की [illegible] किन्तु [illegible] पात्र नूपूर शर्मा के माध्यम से [illegible] का यह मंतव्य स्पष्ट है कि [illegible] को [illegible] के लिए परंपरा को [illegible] सन्दर्भों से जोड़ना होगा। जो शहरी परंपराएँ हैं, उनमें अंतराल है जबकि गाँव की शैलियों में निरंतरता है।

भगवानदास मोरवाल की भाषिक दक्षता प्रभावित करती है। अपने प्रत्येक उपन्यास में वस्तु से संदर्भित भ्रष्ट तंत्र पर प्रहार करने से वे नहीं चूकते। जाहिर-सी बात है कि इन स्थलों पर भाषा की मारक क्षमता व्यंग्य के सहारे ही व्यक्त होगी। जुगाड़ के द्वारा संस्कृति मंत्रालय में पैठ बनाने वाली दोयम दर्जे की कलाकार मालिनी को जब रागिनी देखती है तो उसकी मानसिक प्रतिक्रिया की भाषा की व्यंग्यपरकता बेधक है. "दिन भर की थकान के कारण रागिनी की पलकों पर नींद की एक आवारा झपकी आकर बैठी ही थी कि तभी एक विदेशी इत्र के भभूके ने उसकी झपकी में खलल डाला। भभूका इतना तीखा था कि आँखें अपने आप खुल गयीं। जब तक वह कुछ समझ पाती भभूका अंडर सेक्रेटरी कलाम खाँ के आदमकद पार्टीशन को पार कर चुकी थी।" (पृ. 319)

ससुराल के जिस बड़े घर में एक बहू के रूप में रागिनी का कभी प्रवेश नहीं हुआ था, उसी बड़े घर के सभी सदस्य जब एनएसडी में उसके द्वारा प्रस्तुत नौटंकी 'अमरसिंह राठौर' की दूरदर्शन-प्रस्तुति को विभोर होकर देखते हैं तो इसकी अभिव्यक्ति में उपन्यासकार की भाषा एक अलग रंगत में रागिनी के, या यूँ कहें कि स्त्री के पक्ष में खड़ी होती है–'दोहा खत्म होने के बाद झील-नागाड़े की खनक से बड़े घर का दालान ही नहीं उसकी दीवारें भी झंकृत हो उठीं। इसके बाद तो झील-नागाड़े पर पड़ी चोब की हर टंक हवेली के बरसों से खाली पड़े उदास कोनों-अंतरों तक मानों जबरन घुस गयी। बड़े घर का दालान, उसके महराब और दरो-दीवार ही नहीं, उनके चौड़े मजबूत आसारों के मोटे पलस्तर को पार कर रागिनी के गले से निकले दौड़, चौबोला और बहरतबील में पगे सुर उनकी नसों में पार होते चले गये। टेलीविजन पर

चल रही नौटंकी और साजों की आवाज को सुनते हुए ऐसा लगा, जैसे थोड़ी देर के लिए राजा साहब की हवेली का दालान और उसके सामने बिछी कुर्सियाँ किसी सभागार में बदल गया है। जिस हवेली यानी बड़े घर में रागिनी ने कदम नहीं रखे, इस समय उसके रोशनदान, खिड़कियाँ, मुँडेर, छज्जे, बरोठे, गुमटी, बारादरी, कोने ही नहीं, कँगूरे गुम्बद तक रागिनी की खनक से झिलमिल उठे हैं। बड़े घर की जिन रोशनदान मोखियों से सुबह शाम सूरज की पीताम्बरी रोशनी या कभी कभार हवा का कोई भूला भटका आवारा झोंका अपना रास्ता भूलकर अन्दर आ जाता; उसी की दीवारों से गूँजती रागिनी की आवाज जैसे बगावत कर पूरी हवेली में फैल गयी।" (पृ. 290)

भारत के जिन जिन क्षेत्रों में रागिनी ने नौटंकी खेली थीं, उन सब जगहों की बोली-बानी एवं स्थानीय रंगत को प्रस्तुत करने में उपन्यासकार की कला-दक्षता मुखर है। संदर्भों के अनुकूल पूरे उपन्यास में उर्दू भाषा की मिठास घुली हुई है। पाठकों की नयी पीढ़ी को लोक रिक्थ से परिचित कराने में 'सुर बंजारन' का कथ्य ही नहीं भाषा-शिल्प भी कारगर है। लोकवार्ता, लोकसंगीत, लोकनाट्य, लोककलाओं एवं लोकसाहित्य के प्रति विमुखता के कारक तत्वों की पड़ताल कर उसके समाधान की दिशा में लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों को आगे आना होगा। भगवानदास मोरवाल ने अपने उपन्यासों के माध्यम से इस लेखकीय दायित्व को पूरी ईमानदारी एवं क्षमता से निभाया है। हमारा समय आज जिन दो अतिरेकों से गुजर रहा है–उत्तर आधुनिकता का सीमातिक्रान्त दबाव और मोहग्रस्त अतीतजीविता या रूढ़िवादिता–उपन्यासकार इन दोनों से बचते हुए संतुलित दृष्टि के साथ अपनी राह चलता दिखाई देता है। विचारों का यह संतुलन 'सुर बंजारन' की अन्तर्वस्तु में आद्यन्त परिलक्षित है।

–अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

■